

कंपनी काल में कृषि पर वाणिज्यीकरण का प्रभाव

अजय कुमार

ग्राम – सुरजपुर

पोस्ट –उजियारपुर

जिला – समस्तीपुर

ब्रिटिश औपनिवेशिक शासनकाल में कृषि-पदार्थों का बाजार बढ़ा और बाजार का मूँह देखकर खेती के इलाके बढ़ने लगे, तो इसके फलस्वरूप ग्रामीण अर्थनीति में किस प्रकार के परिवर्तन शुरू हुए? धनंजय रामचंद्र गाडगील, रवींद्र कुमार, नील चार्ल्सवर्थ इत्यादि विद्वानों के तथ्यपूर्ण विवेचन इस मामले में उपलब्ध हैं, इसीलिए महाराष्ट्र के रूई के बाजार ने 1860 से किस तरह कृषि-अर्थनीति को प्रभावित किया, उसे एक उदाहरण के रूप में हम थोड़ी गंभीरता के साथ देख सकते हैं। बाजार अथवा गेहूँ के बदले में रूई की खेती करने से बाजार के साथ कृषि-अर्थनीति जुड़ जाती है, यह एक जानी हुई बात है। विशेषकर अगर वह दो-एक किसानों द्वारा रूई की खेती न होकर व्यापक रूप से आंचलिक विशिष्टीकरण होकर सामने आए। इसका अर्थ क्या है ? (1) बाजार में, विशेषकर बंबई या मैनचेस्टर के बाजार में, रूई की जो माँग है वह पहले जो देशी रूई पैदा की जाती थी, उसके अलावा है। देशी रूई की कपास के रेशे छोटे होते थे, पर बाजार में जिस रूई की माँग थी वह मिस्र अथवा कैलीफोर्निया की रूई की तरह लंबे रेशे वाली होनी चाहिए थी मैनचेस्टर की आधुनिक सूती मिलों में इस लंबे रेशे वालीरूई के अलावा दूसरी रूई से असुविधा होती थी, क्योंकि छोटे रेशे वाली रूई से मशीन द्वारा सूत तैयार करने में वह बार-बार टूट जाता था। इसलिए लंबे रेशे वाली कपास की खेती करने के लिए विदेशी रूई के बीज की जरूरत थी अथवा नएप्रकार की देशी तथा विदेशी जाति के मिले-जुले रेशोंवाले बीज की जरूरत थी। फलस्वरूप इसकी लागत बढ़ जाती थी। इसके अलावा रूई की खेती में, दूसरे अनेक अनाजों की तुलना में, जैसे बाजरा, खाद और सिंचाई के पानी की ज्यादा जरूरत थी। इसमें भी पैसे लगते थे। संक्षेप में, बाजार के लिए रूई की खेती करने में कुछ ज्यादा विनियोग की जरूरत थी। जिसका मतलब यह है कि किसान को कई बार उधार लेना होता था, जिसके लिए गाँव का बनिया या महाजन हमेशा तैयार रहते थे। महाराष्ट्र में इन्हें 'बनी' कहा जाता था। ये लोग नागपुर अथवा बंबई के दलालों की ओर से रूई का 'चालान' करने के काम में बड़ा उत्साह दिखाते थे। फलस्वरूप उन्नत बीज प्राप्त करके रूई की खेती करने के लिए किसान को पेशगी पैसे मिल जाते थे। अगर ऋण की रकम बड़ी हो तो लिखा-पढ़ी कर ली जाती थी, जिससे आगामी फसल पर बनिया अपने पैसे वसूल कर सके। (2) इस तरह की खेती के लिए ऋण अर्थात् उत्पादन-ऋण के अलावा घर में फसल आने तक किसान अपना पेट भरने के लिए जिस उपभोग-ऋण की जरूरत महसूस करता था उसके लिए भी वह उसी महाजन के पास जाता था। बाजार में मंदी होने, फसलों का दाम आशातीत रूप से कम होने, ठीक समय पर ठीक परिमाण में बारिश न होने इत्यादि कारणों से अगर किसान की आय किसी

साल कम हो तो वह क्या खाएगा ? बाजरे की खेती जब वो करता था तो वह बाजरा खा सकता था, पर अब रूई की खेती करने पर वह रूई तो खाएगा नहीं। इस प्रकार के ऋणों का सूद आमतौर पर खूब ऊँचा होता था। एक शोध द्वारा पता चला है कि 1876 में दक्षिणी प्रांतों के कृषक विद्रोह के बाद 'दूनी' (200 प्रतिशत) 'तिरपत' (300 प्रतिशत) जैसे अचितनीय दरों पर सूद लिया जाता था। अगर किसान संपत्तिहीन होता था तो यह दर और बढ़ जाती थी। (3) 3/4 इंच लंबे रेशोंवाली नई तरह की रूई की माँग मैनेचेस्टर में थी, किंतु उस बाजार में माल पहुँचाना किसान के वश के बाहर था महाजन और दूसरे ढेर सारे रूई के बिचौलियों के अभाव में किसान अपने माल को बाजार तक नहीं पहुँचा सकता था। पहले के दिनों में वह रूई की खेती करता तो आसपास के सूत बनाने वाले जुलाहे उसे खरीद लेते थे, मगर वे लंबे रे शेवाली इस रूई को ज्यादा दाम देकर खरीदने में समर्थ न थे। फलस्वरूप बाजार के लिए रूई की खेती करने का मतलब था बिचौलिए व्यापारियों के हाथ में किसान का बंधक हो जाना। (4) प्रसंगवश एक और बात यह हुई कि आमतौर पर निरुद्योगीकरण (कमपदकनेजतपसपेंजपवदद्ध के फलस्वरूप और विशेषकर 1860-64 में रूई का दाम बहत बढ़ जाने से बुनकर-उद्योग की स्थिति बहुत खराब हो गयी। कच्ची रूईके निर्यात के फलस्वरूप जुलाहे को कच्चे माल की कमी पड़ने लगी। जों थोड़ा-बहुत उसे मिलता था उसका दाम बहुत ज्यादा था। करघा अगर बंद हो जाए तो मैनेचेस्टर से आयातित कपड़ा ही उसका अंतिम आधार है। मगर वहकपड़ा गाँव में कौन ले जाएगा ? वही बनिया या उसका कोई जात भाई। किसान वहीं कपड़ा खरीदेगा। (5) विदेश में अपना बाजार बढ़ाने के लिए रूई का दाम बढ़ाया गया था-विशेषकर जब बाजार बहत तेजी पर था जैसे 1860-64 में, मगर उस मूल्य का कितना हिस्सा किसान को मिला ? मैनेचेस्टर में रूई का दाम कितना है, यह खबर पहले बंबई पहुँचती है, और फिर वहाँ से नागपुर-जैसे अपेक्षाकत छोटे शहरों के बाजारों में। फिर वहाँ से वह कस्बों से होती हुई गाँवों में पहुँचती है। किसान के लिए बाजार-भाव की सूचना आसानी से उपलब्ध नहीं है। खासकर जब वह बाजार के लिए उत्पादन शुरू करता है उस समय इसके अलावा केवलसंपन्न किसान अपनी रूई बैलगाड़ी पर लादकर बिक्री के लिए शहर ले जाने में समर्थ होता है। ज्यादातर रूई गाँव में ही बिक जाती है-गाँव के एकाधिकारी खरीददार बनियों के हाथों। इसी प्रकार शहर में भी विभिन्न दलालों औरआढ़तियों के बीच तालमेल के कारण प्रतिस्पर्धा के आधार पर रूई का दाम निर्धारित नहीं होता। संक्षेप में, बाजार को नियंत्रित करने की मशीनरी इस प्रकार तैयार की गई थी कि किसान यह भी समझ नहीं पाता था कि उसे अपने माल का उचित दाम मिला या नहीं। (6) कृषि-उत्पाद का अगर दाम बढ़ता है तो बंबई की तरह के रैयतवारी इलाकों में मालगुजारी का बढ़ना निश्चित है। स्वाभाविक रूप से बंबई प्रेसीडेंसी के अनेक जिलों में 1960-64 के दिनों में रूई के बाजार में तेजी के समय मालगुजारी बंदोबस्त के दौरान खूब ऊँची दर लगाई गई। किसी समय किसान के लाभ का कुछ भाग सरकार के हाथ में जाता था, पर वह कोई बड़ा भाग नहीं होता था। दर असल लाभ का बड़ा अंश बनियों और महाजनों के हाथों में चला जाता था। (7) नई रूई की खेती का एक और प्रतिफल यह हुआ कि रूई की धुनाई के लिए विदेशी अथवा उसकी नकल पर बनी देशी मशीनों को जरूरत

हई। यह मशीन अमेरिका के विटनी जिन (पौजदमल ळपद) नामक मशीन का एक देशी संस्करण थी। पुराने दिनों में किसान की औरत अथवा धुनिए की औरत एक मामूली –सी चर्खी या धुनकी से रूई में से बीज धुनकर निकाल देती थी और रूई कोसाफ कर देती थी, लेकिन लंबे रे शौवाली नई किस्म की रूई के बीज को देशी पद्धति से साफ करना संभव न था। इसका मतलब था रूई को बाहर ले जाना, उसे कारखाने में ले जाकर धनवाना और साफ करवाना। कृषि अर्थनीति में पूँजी-प्रवेश का यह एक रास्ता था। किसान अपनी बैलगाड़ी पर लाद कर रूई 'जिन' मशीनोंके मालिक के पास साफ करवाने ले जाता था, पर यह केवल संपन्न किसानों के लिए संभव था। दूसरा रास्ता था कि किसान बिना साफ किए रूई को कम दाम पर गाँव के महाजन अथवा घूमते-फिरते थोक खरीद करनेवाले दलालों को बेच दे। गरीब किसान ऐसा करने को मजबूर था। (8) गरीब और संपन्न किसान के बीच इस अंतर के अलावा और भी अनेक मामलों में अंतर था। कृषि के वाणिज्यीकरण ने इन दोनों के बीच विषमता को बढ़ा दिया था। दक्कन में 1880 के दशक से बनिया या मारवाड़ी महाजनों के स्थान पर संपन्न किसान और मराठा शासनकाल से संपत्तिशाली देशमुख, पाटिल, मीरासदार जाति के ग्रामीण उच्चवर्ग के लोगों को देखा गया। बाद के एक अध्याय में इस विषय को लेकर विस्तृत चर्चा होगी।

इस उदाहरण से देखा जाता है कि कृषि-बाजार के बढ़ने के साथ-साथ कैसे महाजनी पूँजी कृषि के क्षेत्र में प्रवेश करके इसमें परिवर्तन ले आई। बनिये (बनी) रूई की खेती के लिए अग्रिम रूपए देते थे। वे ही मध्यवर्ती रूई के बाजार पर नियंत्रण रखते थे। किसान का पेट भरने के लिए वे ही उसे बाजरा, गेहँ या पैसे उधार देते थे। वे ही मैनेज्स्टर में बने कपड़े गाँव में बेचकर ऐसी स्थिति बनाने में सहायक हुए जिससे देशी करघे बंद हो गए। बाजार के दाम पर भी उनका ही नियंत्रण था और अगर किसान के पास पैसे नहीं होते थे तो सरकारी मालगुजारी जमा करने के लिए वह उन्हें पैसे भी उधार देता था। इस वर्ग को औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के स्तंभ के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

इस उदाहरण से यह भी प्रतीत होता है कि औपनिवेशिक कृषि-उत्पादों के वाणिज्य की प्रक्रिया में किसानों की परा धीनता तरह-तरह से बढ़ती है : उत्पादन केविनियोग के लिए, अग्रिम मालगुजारी जमा करने या पेट पालने के लिए कर्ज लेना, अपना सामान बेचने के लिए बिचौलिए व्यापारी वर्ग के ऊपर निर्भर होना इत्यादि। हम बाद में देखेंगे कि यह परा धीनता छोटे गरीब किसानों के मामले में बहुत बड़ा सच है। विकासमान और गरीब किसान के बीच बढ़ती हुई दूरी को बनाए रखने के लिए ऊपर बताई गई प्रक्रिया में और अनेक स्थानों पर विकासमान किसान महाजन की भूमिका में उतर पड़ता है। अनेक लोगों के मतानुसार कृषकों के निचले स्तरों पर कृषि वाणिज्य का प्रसार एक प्रकार का बलात वाणिज्यीकरण (थ्वतबमक ब्वउउमतबपंसपेंजपवद) ही है, स्वैच्छिक और स्वाभाविक प्रक्रिया नहीं है।

और अंत में यह बता देना जरूरी है कि कृषि-उत्पादन के विपणन (उंतामजपदह) की व्यवस्था सभी स्थानों पर एक तरह की नहीं है, किंतु अनुरूप से है। रूई के व्यापार में किसान के उत्पादन का खरीददार है ग्रामीण बनिया या महाजन या घुमंतू दलाल। उसके

ऊपर होता है आढ़तिया और रुई की सफाई के कारखाने का मालिक और उसके ऊपर होता है खुदरा खरीद-बिक्री करनेवाला बड़ा दलाल, जो नागपुर-जैसे बड़े शहरों में रहता है। और सबसे ऊपर है बंबई स्थित निर्यात-कंपनी अथवा कारखाने का मालिक दलाल। पटसन के व्यापार में सबसे नीचे खुद खरीददार होता है, उसके ऊपर होता है बड़ा व्यापारी और आढ़तिया। उसके ऊपर पटसन की गाँवों का व्यापारी और सबसे ऊपर होता है कलकत्ता की जट मिल का मालिक अथवा नियति-कंपनी का मैनेजिंग एजेंट सामान के उचित मूल्य में से ये सब बिचौलिए उसके लाभ का एक हिस्सा निश्चित रूप से हड़प लेते थे। ईख की बिक्री का व्यापार और भी आसान था। अगर ईख को कई हाथों में घमना पड़े अथवा उसे गोदाम में रखना पड़े तो वह सूख जाएगी य उसका रस या चीनी नष्ट होगी, इसीलिए उस क्षेत्र में दलालों की संख्या कम है, यानी चीनी मिलें सीधे-सीधे ईख की फसल खरीद लेती हैं। गेहूँ और धान के व्यापार में भी कई स्तरों पर दलाल होते थे। लक्ष्य करने की बात है कि जिस स्थान पर परिवहन के साधन और रास्ते उन्नत थे और साधारण किसान की स्थिति अच्छी थी, वहाँ विपणन में बिचौलियों की संख्या कम थी। इस संबंध में 1923 के पंजाब के प्रतिवेदन से पता चलता है कि पिछड़े हुए करनाल जिले में प्रायः सारा गेहूँ गाँव के दलाल ही खरीद लेते थे। उससे थोड़ा उन्नत रोहतक जिले में गेहूँ के उत्पादन का पचास प्रतिशत गाँव के दलाल खरीदते थे, जबकि दूसरी ओर समृद्धजिले लायलपुर का प्रायः सारा गेहूँ स्थानीय दलालों के हाथ से निकलकर मंडी अथवा बड़े बाजार में बिक्री के लिए चला जाता था। महाजनों और दलालों के हाथ से विपणन को बाहर निकालने का एक और उपाय था और वह था उत्पादकों की सहकारी संस्थाएँ। पर इनकी संख्या बहुत कम थी और इनका प्रभाव बहुत कम था। साथ ही ये सहकारी संस्थाएँ विकासमान किसानों के हाथों में थीं, इस कारणव्यापक किसान वर्ग पर इनका असर बहुत कम था।

कृषि-उत्पादन के वाणिज्य का विकास एक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण था। पुरानी अर्थनीति की एक धारणा है जिसका समर्थन वेरा एनस्टिंग से लेकर आज के अनेक समाजशास्त्री और अर्थशास्त्र करते हैं। यह धारणा है कि साधारणभारतीय किसान, विशेषकर अविकसित अशिक्षित किसान, पुरानी मूल्य-व्यवस्था से इतना जकड़ा हुआ है कि वह अर्थनीति के तरकों को स्वीकार करके नहीं चलता। और यह कि वह अर्थनैतिक सुयोग और सुविधाओं के प्रति प्रतिक्रियाविहीन होता है। यह भी कि वह रूढ़ियों का दास होता है। 19वीं शताब्दी में, खासकर इसके अंतिम चरण में, कृषि में और उसके वाणिज्य में जो क्रांति हुई उसने इस अनसान को संपूर्ण रूप से गलत साबित कर दिया है। अध्यापक धर्म नारायण ने जो आँकड़े प्रस्तुत किए हैं, उनसे प्रमाणित होता है कि विभिन्न फसलों के दामों के उठने और गिरने के साथ-साथ आबाद जमीन के उपयोग (संदक नजपसपेंजपवद) का घनिष्ठसंबंध है। अर्थात् किसी फसल की बाजार-दर बढ़ने के बाद अधिकांश किसान उस ओर झुके हैं और इसकी विपरीत स्थिति में उक्त फसल की खेती कम हुई है। इस प्रकार की मूल्य-निर्भरता (क्षपबम तमेचवदेपअमदमे)प्रमाणित करती है कि कृषि पारंपरिक रास्ते पर नहीं चल रही थी, बल्कि बाजार की गति द्वारा परिचालित हो रही थी। निश्चय ही इसके लिए बनिया, महाजन और दलाल खरीददार किस सीमा तक जिम्मेदार थे और किस सीमा तक यह किसानों के

खुद के निर्णय का फलथा, इस सवाल का जवाब देना मशकल है। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि मूल्य-निर्भरता ने अंततः बीसवीं शताब्दी में कृषि की प्रगति और प्रकृति को प्रभावित किया है।

Refrence

1. Irfan Habib ,The Agrarian System of Mughal India (Bombay, 1963) and ch. VIII in CFHI vol :1
2. Daniel Thorner, Investment in empire. 1925-49 (Philadelphia, T950)
3. J.Hurd 'Railways and the expansion of markets in India' Explorations in Economic
4. History, 12.3.1975 ch. VIII in CEHI, vol. II. pp. 757-60
5. B. B. Chaudhuri, Growth of commercial agriculture in Bengal, 1757-1900 (Calcutta, 1964)
6. D. R. Gadgil, Industrial Evolution of India in recent times (Bombay, 1942) ch. II
7. Saugata P. Mukherjee 'Some aspects of commercialisation of agriculture in eastern India. in B. De (ed)
8. Perspectives in Social Sciences, vol. II, and 'Imperialism in action through
9. mercantilist function' Anon, (ed) Essays in Honour of Prof. S. C. Sarkar (Delhi. 1975)
10. George Blyn Agricultural trends in India, 1891-1946 (PHiladelphia, 1966).